बन्धन से मुक्ति की ओर

यद्यपि यह सत्य है आत्मा के पूर्व कर्म संस्कारों के कारण बन्धन की प्रक्रिया अविराम गति से चलती रहती है। पूर्व कर्म संस्कार अपने विपाक के अवसर पर आत्मा को प्रभावित करते हैं और उसके परिणाम स्वरूप मानसिक एवं शारीरिक क्रिया-व्यापार होते हैं, उस क्रिया-व्यापार के कारण नवीन कर्मास्रव एवं बन्ध होता है। अत: यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस बन्धन से मुक्त किस प्रकार हुआ जाये। जैन दर्शन बन्धन से बचने के लिए जो उपाय बताता है, उन्हें संवर और निर्जरा कहते हैं।

संवर का अर्थ

तत्त्वार्थसूत्र[1] के अनुसार आस्रव-निरोध संवर है। दूसरे शब्दों मे कर्मवर्गणा के पुद्गलों का आत्मा में आने की क्रिया का रुक जाना संवर है। वही संवर मोक्ष का कारण तथा नैतिक साधना का प्रथम सोपान है। संवर शब्द 'सम' उपसर्ग पूर्वक 'वृ' धातु से बना है। वृ धातु का अर्थ है रोकना या निरोध करना। इस प्रकार संवर शब्द का अर्थ किया गया है— आत्मा को प्रभावित करने वाले कर्मवर्गणा के पुद्गलों के आस्रव को रोक देना। सामान्य रूप से शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं का यथाशक्य निरोध करना (रोकना) संवर कहा जाता है, क्योंकि क्रियाएँ ही आस्रव का आधार हैं। जैन परम्परा में संवर को कर्म परमाणुओं के आस्रव को रोकने के अर्थ में और बौद्ध परम्परा में क्रिया के निरोध के अर्थ में स्वीकार किया गया है, क्योंकि बौद्ध परम्परा में कर्मवर्गणा (परमाणुओं) का भौतिक स्वरूप मान्य नहीं है, अत: वे संवर को जैन परम्परा के अर्थ में नहीं लेते हैं। उसमें संवर का अर्थ मन, वाणी एवं शरीर के क्रिया-व्यापार या ऐन्द्रिक प्रवृत्तियों का संयम ही अभिप्रेत है। वैसे जैन परम्परा में भी संवर को कायिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं के निरोध के रूप में माना गया है, क्योंकि संवर के पाँच अंगों में अयोग (अक्रिया) भी एक माना गया है। यदि हम इस परम्परागत अर्थ को मान्य करते हुए भी इससे थोड़ा ऊपर उठकर देखें तो संवर का वास्तविक अर्थ संयम ही माना जा सकता है। जैन परम्परा में भी संवर के रूप में जिस जीवन प्रणाली का विवेचन किया गया है वह संयमात्मक जीवन की प्रतीक है। स्थानांगसूत्र[2] में संवर के पाँच भेदों का विवेचन पाँचों इन्द्रियों के संयम के रूप में किया गया है। उत्तराध्ययनसूत्र[3] में तो संवर के स्थान पर संयम को ही आस्रव-निरोध का कारण माना गया है। वस्तुत: संवर का अर्थ है अनैतिक या पापकारी प्रवृत्तियों से अपने को बचाना। संवर शब्द इस अर्थ में संयम का पर्याय ही सिद्ध होता है। बौद्ध परम्परा में संवर शब्द का प्रयोग संयम के अर्थ में ही हुआ है। धम्मपद[4] आदि में प्रयुक्त संवर शब्द का अर्थ संयम ही किया गया है। संवर शब्द का यह अर्थ करने में जहाँ एक ओर हम तुलनात्मक विवेचन को सुलभ बना सकेंगे वही दूसरी ओर जैन परम्परा के मूल आशय से भी दूर नहीं होयेंगे। लेकिन संवर का यह निषेधक अर्थ ही सब कुछ नहीं है, वरन् उसका एक विधायक पक्ष भी है। शुभ अध्यवसाय भी संवर के अर्थ में स्वीकार किये गये हैं, क्योंकि अशुभ की निवृत्ति के लिए शुभ का अंगीकार प्राथमिक स्थिति में आवश्यक है। वृत्ति-शून्यता के अभ्यासी के लिए प्रथम शुभ वृत्तियों को अंगीकार करना होता है, क्योंकि चित्त के शुभवृत्ति से परिपूर्ण होने पर अशुभ के लिए कोई स्थान नहीं रहता है। अशुभ को हटाने के लिए शुभ आवश्यक है। दूसरे शुभ को हटाना तो इतना सुसाध्य होता है कि उसका सहज निराकरण हो जाता है। अत: संवर का अर्थ शुभ वृत्तियों का अभ्यास भी है। यद्यपि वहाँ शुभ का वह अर्थ नहीं है, जिसे हम पुण्यास्रव या पुण्यबन्ध के रूप में जानते हैं।

जैन परम्परा में संवर का वर्गीकरण

(अ) जैन दर्शन में संवर के दो भेद हैं—१. द्रव्य संवर और २. भाव संवर। द्रव्यसंग्रह में कहा गया है कि कर्मास्रव को रोकने में सक्षम आत्मा की चैत्तसिक स्थिति भावसंवर है, और द्रव्यास्रव को रोकने वाला उस चैत्तसिक स्थिति का जो परिणाम है वह द्रव्यसंवर कहा जाता है।[5]

(ब) सामान्य रूप से संवर के पाँच अंग या द्वार बताये गये हैं—१. सम्यक्त्व-यथार्थ दृष्टिकोण, २. विरति-मर्यादित या संयमित जीवन, ३. अप्रमत्तता-आत्म चेतनता, ४. अकषायवृत्ति-क्रोधादि मनोवेगों का अभाव और ५. अयोग-अक्रिया।[6]

(स) स्थानांगसूत्र में संवर के आठ भेद निम्नानुसार बताए गये हैं—१. श्रोत इन्द्रिय का संयम, २. चक्षु इन्द्रिय का संयम, ३. घ्राण इन्द्रिय का संयम, ४. रस इन्द्रिय का संयम, ५. स्पर्श इन्द्रिय का संयम, ६. मन का संयम, ७. वचन का संयम और ८. शरीर का संयम।[7]

(द) प्रकारान्तर से जैन आगम ग्रन्थों में संवर के सत्तावन भेद भी माने गये हैं। जिसमें पाँच समितियाँ, तीन गुप्तियाँ, दस प्रकार का यति धर्म, बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ), बाईस परिषह और सामायिक आदि पाँच चरित्र सम्मिलित है। ये सभी कर्मास्रव का निरोध कर आत्मा को बन्धन से बचाते हैं, अत: संवर कहे जाते हैं।

यदि उपरोक्त आधारों पर हम देखें तो हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि संवर का तात्पर्य ऐसी मर्यादित जीवन प्रणाली है जिसमें विवेक पूर्ण आचरण (क्रियाओं का सम्पादन), मन, वाणी और शरीर की अयोग्य प्रवृत्तियों का संयमन, सद्गुण का ग्रहण, कष्टों, सहिष्णुता और समत्व की साधना समाविष्ट हो। जैन दर्शन में संवर के साधक से अपेक्षा यही की गई है कि उसका प्रत्येक आचरण संयत एवं विवेकपूर्ण हो, चेतना सदैव जाग्रत हो, ताकि इन्द्रियों के विषय उसमें राग-द्वेष की प्रवृत्तियों को पैदा नहीं कर सकें। जब इन्द्रियाँ और मन अपने विषयों के सम्पर्क में आते हैं तो उनके इस सम्पर्क से आत्मा में विकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या वासना उत्पन्न होने की सम्भावना उठ खड़ी होती है। अत: साधना-मार्ग के पथिक को सदैव ही जाग्रत रहते हुए, विषय सेवनरूप छिद्रों से आने वाले कर्मास्रव या विकार से अपनी रक्षा करनी है। सूत्रकृतांगसूत्र[८] में कहा गया है कि कछुआ जिस प्रकार अपने अंगों को अन्दर में समेट कर खतरे से बाहर हो जाता है, वैसे ही साधक भी अध्यात्म योग के द्वारा अन्तर्मुख होकर अपने को पाप वृत्तियों से सुरक्षित रखे। मन, वाणी, शरीर और इन्द्रिय व्यापारों का संयमन ही साधना का लक्ष्य माना गया है। सच्चे साधक की व्याख्या करते हुए दशवैकालिकसूत्र[९] में कहा गया है कि जो सूत्र तथा उसके रहस्य को जानकर हाथ, पैर, वाणी तथा इन्द्रियों का यथार्थ संयम रखता है (अर्थात् सन्मार्ग में विवेकपूर्वक लगता है), अध्यात्म रस में ही जो मस्त रहता है और अपनी आत्मा को समाधि में लगाता है वही सच्चा साधक है।

निर्जरा का अर्थ

आत्मा के साथ कर्म-पुद्गल का सम्बन्ध होना बन्ध है और आत्मा से कर्मवर्गणा का अलग होना निर्जरा है। संवर नवीन आने वाले कर्म-पुद्गल का रोकना है, परन्तु मात्र संवर से निर्वाण की प्राप्ति सम्भव नहीं । उत्तराध्ययनसूत्र[१०] में बताया गया है कि जैसे किसी बड़े तालाब के जल स्रोतों (पानी के आगमन के द्वारों) को बन्द कर दिया जाए और उसके अन्दर रहे हुए जल को उलीचा जाय तथा ताप से सुखाया जाए तो वह विस्तीर्ण तालाब भी सूख जायेगा। प्रस्तुत रूपक में आत्मा ही सरोवर है, कर्म पानी है, कर्म का आस्रव ही पानी का आगमन है। उस पानी के आगमन के द्वारों को निरुद्ध कर देना संवर है और पानी का उलीचना और सुखाना निर्जरा है। यह रूपक यह बताता है कि संवर से नये कर्म रूपी जल का आगमन (आस्रव) तो रुक जाता है लेकिन पूर्व में बन्धे हुए, सत्तारूप कर्मों का जल तो आत्मा रूपी तालाब में शेष रहा हुआ है जिसे सुखाना है। यह कर्म रूपी जल को सुखाना निर्जरा है।

द्रव्य और भाव निर्जरा

निर्जरा शब्द का अर्थ है पूर्णत: जर्जरित कर देना, झाड़ देना अर्थात् आत्मतत्त्व से कर्म-पुद्गल का अलग हो जाना अथवा अलग कर देना निर्जरा है। जैनाचार्यों ने यह निर्जरा दो प्रकार की मानी है। आत्मा की वह चैतसिक अवस्था जिसके द्वारा कर्म-पुद्गल अपना फल देकर अलग हो जाते हैं, भाव निर्जरा कही जाती है। भाव निर्जरा आत्मा की वह विशुद्ध अवस्था है, जिसके कारण कर्म-परमाणु आत्मा से अलग हो जाते हैं। यही कर्म-परमाणुओं का आत्मा से पृथक्करण द्रव्य निर्जरा है। भाव निर्जरा कारण-रूप है और द्रव्य निर्जरा कार्य-रूप है।

सकाम और अकाम निर्जरा

पुन: निर्जरा के दो अन्य प्रकार भी माने गये हैं— १. कर्म जितनी काल मर्यादा (अवधिकाल) के साथ बँधा है, उसके समाप्त हो जाने पर अपना विपाक (फल) देकर आत्मा से अलग हो जाता है, यह यथाकाल निर्जरा कही जाती है। इसे सविपाक, अकाम और अनौपक्रमिक निर्जरा भी कहते हैं। यह सविपाक निर्जरा इसलिए कही जाती है कि इसमें कर्म अपना विपाक देकर अलग होता है अर्थात् इसमें फलोदय (विपाकोदय) होता है। इसे अकाम निर्जरा इस आधार पर कहा गया है कि इसमें कर्म के अलग करने में व्यक्ति के संकल्प का तत्त्व नहीं होता है। उपक्रम शब्द प्रयास के अर्थ में आता है, इसमें वैयक्तिक प्रयास का अभाव होता है, अत: अनौपक्रमिक भी कहा जाता है।

२. दूसरे जब तपस्या के माध्यम से कर्मों को उनके फल देने के समय के पूर्व अर्थात् उनकी काल-स्थिति परिपक्व होने के पहिले ही प्रदेशोदय के द्वारा भोगकर बलात् अलग-अलग कर दिया जाता है तो ऐसी निर्जरा को सकाम निर्जरा कहा जाता है, क्योंकि निर्जरित होने में समय का तत्त्व अपनी स्थिति को पूरी नहीं करता है। इसे अविपाक निर्जरा भी कहते हैं, क्योंकि इसमें विपाकोदय या फलोदय नहीं होता है, मात्र प्रदेशोदय होता है।

विपाकोदय और प्रदेशोदय में क्या अन्तर है, इसे निम्न उदाहरण से समझा जा सकता है। जब क्लोरोफार्म सुँघाकर किसी व्यक्ति की चीर-फाड़ की जाती है तो उसमें उसे असातावेदनीय (दु:खानुभूति) नामक कर्म का प्रदेशोदय होता है लेकिन विपाकोदय नहीं होता है। उसमें दु:खद वेदना के तथ्य तो उपस्थित होते हैं लेकिन दु:खद वेदना की अनुभूति नहीं है। इसी प्रकार प्रदेशोदय कर्म के फल का तथ्य तो उपस्थित हो जाता है, लेकिन उसकी फलानुभूति नहीं होती है। अत: यह अविपाक निर्जरा कही जाती है। इसे सकाम निर्जरा भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें कर्म-परमाणुओं को आत्मा से अलग करने का संकल्प होता है। यह औपक्रमिक निर्जरा भी कही जाती है क्योंकि इसमें उपक्रम या प्रयास होता है। प्रयास पूर्वक, तैयारी सहित, कर्मवर्गणा के पुद्गलों को आत्मा से अलग किया जाता है। यह कर्मों को निर्जरित (क्षय) करने का कृत्रिम प्रकार है।

अनौपक्रमिक या सविपाक निर्जरा अनिच्छापूर्वक, अशान्त एवं व्याकुल चित्तवृत्ति से, पूर्व संचित कर्म के प्रतिफलों का सहन करना है जबकि अविपाक निर्जरा इच्छापूर्वक समभावों से जीवन की आई हुई परिस्थितियों का मुकाबला करना है।

जैन साधना में औपक्रमिक निर्जरा का स्थान

जैन साधना की दृष्टि से निर्जरा का पहला प्रकार जिसे सविपाक या अनौपक्रमिक निर्जरा कहते हैं, अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। यह पहला प्रकार साधना के क्षेत्र में ही नहीं आता है, क्योंकि कर्मों के बन्ध और निर्जरा का यह क्रम तो सतत् रूप से चला आ रहा है। हम प्रतिक्षण पुराने कर्मों की निर्जरा करते रहते हैं लेकिन जब तक नवीन कर्मों का सृजन समाप्त नहीं होता ऐसी निर्जरा से सापेक्षिक रूप में कोई लाभ नहीं होता। जैसे कोई व्यक्ति पुराने ऋण का भुगतान तो करता रहे, लेकिन नवीन ऋण भी लेता रहे तो वह ऋण मुक्त नहीं होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन विचारणा के अनुसार यह सविपाक निर्जरा तो आत्मा अनादिकाल से करता आ रहा है, लेकिन निर्वाण का लाभ प्राप्त नहीं कर सका। आचार्य कुन्दकुन्द[११] कहते हैं— यह चेतन आत्मा कर्म के विपाक काल में सुखद और दु:खद फलों की अनुभूति करते हुए पुन: दु:ख के बीज रूप आठ प्रकार के कर्मों का बन्ध कर लेता है, क्योंकि कर्म जब अपना विपाक देते हैं तो किसी निमित्त से देते हैं और अज्ञानी आत्मा शुभ निमित्त पर राग और अशुभ निमित्त पर द्वेष करके नवीन बन्ध कर लेता है।

अत: साधना-मार्ग के पथिक के लिए पहले यह निर्देश दिया गया कि वह प्रथम ज्ञान युक्त हो कर्मास्रव का निरोध कर अपने आपको संवृत करे। संवर के अभाव में जैन साधना में निर्जरा का कोई मूल्य नहीं, वह तो अनादिकाल से होती आ रही है किन्तु भव परम्परा को समाप्त करने में सहायक नहीं हुई। दूसरे यदि आत्मा संवर का समाचरण करता हुआ भी इस यथाकाल होने वाली निर्जरा की प्रतीक्षा में बैठा रहे तो भी वह शायद ही मुक्त हो सके, क्योंकि जैन मान्यता के अनुसार प्राणी के साथ बन्ध इतना अधिक है कि वह अनेक जन्मों में ही शायद इस कर्म बन्ध से स्वाभाविक निर्जरा के माध्यम से मुक्त हो सके। लेकिन इतनी लम्बी समयावधि में संवर से स्खलित होकर नवीन कर्मों के बन्ध की सम्भावना भी तो रही हुई है। अत: साधना-मार्ग के पथिक के लिए जो मार्ग बताया गया है, वह है औपक्रमिक या अविपाक निर्जरा का। महत्त्व इसी तप जन्य निर्जरा का है। ऋषिभाषितसूत्र[१२] में ऋषि कहता है कि संसारी आत्मा प्रतिक्षण नए कर्मों का बन्ध और पुराने कर्मों की निर्जरा कर रहा है, लेकिन तप से होने वाली निर्जरा ही विशेष (महत्त्वपूर्ण) है। बन्ध और निर्जरा का प्रवाह अविराम गति से बह रहा है किन्तु (जो) साधक संवर द्वारा नवीन आस्रव को निरुद्ध कर तपस्या द्वारा पुरातन कर्मों को क्षीण करता चलता है, वह अन्त में पूर्ण रूप से निष्कर्म बन जाता है, मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।[१३]

सन्दर्भ संकेत

१. तत्त्वार्थसूत्र, विवे० पं०सुखलालसंघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९७६, ९/१।

२. स्थानांगसूत्र, संपा० मधुकर मुनि, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८१, ५/२/४२७।

३. उत्तराध्ययनसूत्र, संपा० साध्वी चन्दना, प्रका० वीरायतन प्रकाशन, आगरा, १९७२, २९/२६।

४. धम्मपद, अनु० पं०राहुल सांकृत्यायन, प्रका० बुद्धविहार, लखनऊ, ३९०-३९३।

५. द्रव्य संग्रह।

६. समवायांगसूत्र, संपा० मधुकर मुनि, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८२, ५/५।

७. स्थानांगसूत्र, संपा० मधुकर मुनि, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८१, ८/३/५९८।

८. सूत्रकृताङ्गसूत्र, संपा० मधुकर मुनि, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८२, १/८/१६।

९. दशवैकालिकसूत्र, संपा० मधुकर मुनि, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८५, १०/१५।

१०. उत्तराध्ययनसूत्र, संपा० साध्वी चन्दना, प्रका० वीरायतन प्रकाशन, आगरा, १९७२, ३०/५-६।

११. समयसार, कुन्दकुन्द, प्रका० अहिंसा प्रकाशन मन्दिर, दरियागंज, देहली, १९५९, ३८९।

१२. ऋषिभाषित, सं० महोपाध्याय विनयसागर जी, प्रका० प्राकृत अकादमी, जयपुर।

१३. जैनधर्म, मुनि सुशील कुमार, प्रका० श्री अ०भा०श्वे०स्थानकवासी, जैन कान्फरेन्स, देहली, पृ० ८७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org